ने वहाँ बिना प्रेस का नाम दिए इस प्रस्तावको छपाकर वितरण किया था। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि उस प्रतिष्ठामें गौमुखी देवियों आदि की प्रतिष्ठा की गई थी उसका शास्त्री परिषद् के किसी विद्वान् ने विरोध नहीं किया किन्तु उनकी दृष्टि तो सोनगढ़ के विरोध तक सीमित थी क्योंकि उनके बढ़ते हुए प्रचारसे भट्टारकी युग समाप्त होने की आशंका थी। इस ही प्रस्ताव को बड़े २ पोस्टरों के रूपमें छपाकर सर्वत्र प्रचारित किया गया है और उसके द्वारा सभी समाज के संगठनों को आह्वान किया है कि वे गांव २ में सोनगढ़ का विरोध करने के लिये अलग संगठन बनावें।

इस प्रस्ताव का अपने आपमें कोई महत्त्व नहीं है। यह अनुभूत तथ्य है कि जिस सत्य का जितना अधिक बहिष्कार किया जाता है लोग उस सत्य की ओर उतने ही अधिक आकर्षित होते हैं। किंतु मैं देख रहा हूं कि कुछ व्यक्ति इस प्रस्ताव की आड़में स्थान २ पर सामाजिक एकता भंग करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसका उदाहरण इंदौर एवं सनावद के क्रिया कलाप सामने हैं। ऐसे क्रियाकलापों की आवृत्ति अन्यत्र न हो तथा जन साधारण वास्तविकता समझे इसलिये सोनगढ़ के उद्धृत २१ कथनों का पूर्ण विवेचन करना आवश्यक है।

इन २१ कथनों में निम्न कथनों का तो प्रस्तावमें आधार ही नहीं बताया गया है अतः उन पर विचार ही नहीं किया जा सकता—

१५ नियतिवाद

१७ कार्य सिद्धि में निमित्तकारण अकिंचित्कर है।

१८ व्यवहार चारित्र त्याज्य है।

१९ व्यवहार नय सर्वथा असत्यार्थ है।

२० केवलज्ञानावरणके क्षय से केवलज्ञान नहीं होता।

शेष १६ कथनों का विवेचन आगे किया जायगा। वस्तुतः प्रसंग बिना बताये, वाक्य को तोड़ मरोड़ कर ये कथन प्रस्तुत किए गये हैं इसलिये

इन कथनों को समझने के लिये यह आवश्यक है कि इनकी मूल भूमिका एवं प्रसंग, नयपद्धति पूर्णरूपसे समझी जावे।

निश्चयनय की पद्धति के कथन की व्यवहारनयमें परीक्षा करना वक्ता के प्रति अन्याय है एवं अपने तथा अपने श्रोताओं को धोखा देना है।

इन कथनों की प्रासंगिक अपेक्षाओं को ध्यान में रखे बिना परीक्षा करना समीचीन नहीं होगा।

पाठक देखेंगे कि प्रस्तावमें उल्लिखित कथन अपने प्रसंग विशेषमें आगम सम्मत हैं उनके समर्थन में आगम के उद्धरण दिए गये हैं।

अत: यह मेरी समझमें नहीं आता कि शास्त्रि परिषद् के उपस्थित २५-३० विद्वानों ने इन कथनों को दिगम्बर जैन सिद्धान्त घातक कैसे मान लिया ? इसके निम्न कारण हो सकते हैं—

१ उन्होंने सोनगढ़ से प्रकाशित पूरा साहित्य नहीं पढा किन्तु कुछ व्यक्तियों के भ्रामक प्रचारके चक्कर में आ गए।

२. उन्होंने सोनगढ़ के इन कथनों का दिगम्बर आम्नायमें प्राप्त आगमसे मिलान नहीं किया (अन्यथा वे जान जाते कि ये कथन आगमानुकूल हैं।)

३ मुनिभक्त कुछ गृहस्थ विद्वान तो संभवत वर्तमान के कुछ मुनियों के आदेशानुसार समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथ पढ़ते ही नहीं होंगे अत वे उन महान् ग्रंथों के सिद्धांतों से सम्मत सोनगढ़ के कथनों को सिद्धांत घातक कहें तो आश्चर्य क्या ?

यह विवेचन उन व्यक्तियों के लिये है जो बिना किसी पूर्वाग्रह के सोनगढ़ से प्रकाशित साहित्य के लिये जिज्ञासाबुद्धि रखते हैं। साथ ही इस विवेचन के आधार पर विद्वद्गण पुन: विचार करें और देखें कि शास्त्रि परिषद् का उक्त प्रस्ताव साधार है या निराधार ?

इसी प्रसंग में यह भी बता देना समीचीन होगा कि शास्त्रीय मंतव्यों के अनुसार शुभोपयोग को हेय मानते हुए भी सोनगढ़वाले देवपूजा, दान, प्रतिष्ठा, तीर्थ, शास्त्रभक्ति आदि के कार्यों में सच्ची रुचि लेते हैं जिसका सही मूल्यांकन तो वहां जाने से ही हो सकता है या कभी २ सोनगढवाले यात्रा प्रसंगों में अन्यत्र आये वहां उनकी भक्ति आदि के कार्यक्रम देखनेवाले जानते हैं।

कभी २ विरोधी पक्षकी ओर से यह प्रचार किया जाता है कि अमुक व्यक्ति सोनगढ के प्रभावमें आकर व्रतादि से च्युत होगया। इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि यदि कोई अमृत का समीचीन उपयोग न कर सके तो अमृत का क्या दोष ?

अनेक व्यक्ति व्रतादि ग्रहण कर भ्रष्ट होते हैं तो क्या व्रतादि नहीं ग्रहण करना चाहिये ?

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि सोनगढ के साहित्य में पुण्यकी हेयता बताई है, दान पूजादि को बंधका कारण बताया है इसलिए लोग इन्हें करने से छोड़ देंगे। ऐसे भाई स्वामीजी के उन कथनों को क्यों भूल जाते हैं जिनकी प्रेरणा से (ऐसे कुछ प्रेरणास्पद कथन पुस्तिका के अंतमें दिये गये हैं) गुजरातमें २६ दिगम्बर जैन मंदिर बन गये एवं १५ स्थानों पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें हुईं। एवं लाखों की संख्या में दिगम्बर जैन साहित्य की पुस्तकें प्रकाशित हुईं एवं सैंकड़ों की संख्या में श्रावक तीर्थयात्रार्थ जाते हैं। सभी दिगम्बराचार्यों ने मोक्षमार्ग में पुण्य को हेय एवं दान पूजादि को बंधका कारण बताया है। और तो क्या सोनगढ़ के विरोधियों के इस युग के धर्म साम्राज्य दिवाकर (जो अर्हत् परमेष्ठी का एक नाम है) श्री शान्तिसागरजी ने अपने अंतिम संदेश में भी कहा था—

"दानसे, पूजासे, तीर्थयात्रासे पुण्यबंध होता है। हर धर्मकार्यसे पुण्य का बंध होता है किंतु कर्मकी निर्जरा का साधन आत्मचिन्तन है।"

किन्तु वे भाई ऐसा ही कथन करने वाले कानजी स्वामीका विरोध करने में अपना अहोभाग्य समझ रहे हैं। क्या वे प्रकारांतर से अपने मान्य आचार्योंका विरोध नहीं कर रहे हैं ? कृपया गंभीरतापूर्वक विचार करें।

इस विवेचन का वीतराग भाव से मनन करने का अनुरोध करना आवश्यक समझता हूँ। इस विवेचन में कहीं भूलचूक हो तो वीतरागभाव से लेखक को सूचित कर दें।

कथन नं० १

शरीर से आत्माको भिन्न करने पर प्राण हत्या करने पर हिंसा नहीं होती है, आत्मधर्म वष १ अक नं० ४, पृष्ठ ७१, वर्ष-४ अंक २ पृ० १६ (जिस लेख को आज २० वष व्यतीत हो चुके हैं।)

विवेचन—आत्मधर्मके उक्त अक में ऐसा कथन नहीं मिलता किन्तु तत्संबंधी लेखका पूर्ण अंश उद्धृत करता हूँ जिससे पाठक वास्तविकता समझें।

अहिंसा का स्वरूप

'अहिंसा परमोधर्म' वाक्य का यह अर्थ है कि आत्मा शुद्ध ज्ञायक अखंड है, उसकी अन्तर श्रद्धा करके उसमें एकाग्र रहना, इसीका नाम अहिंसा है और यही परम धर्म है। दूसरे को न तो कोइ मार सकता है और न जिला सकता है, केवल वैसे भाव करे, दूसरे को मारने के भाव अशुभ पाप भाव है और दूसरे को जिलानेके भाव शुभ भाव पुण्य है। किन्तु यह वास्तविक अहिंसा नहीं है। क्योंकि स्वय दूसरे को न तो मार सकता है और न जिला सकता है, फिर यों मान लिया कि मैं दूसरे को मार या जिला सकता हूँ, इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपने को परका कर्ता माना, बस, इसीमें स्वभाव की हिंसा है। लोग परदया पालनको अहिंसा कहते हैं, सचमुच में वह अहिंसा ही नहीं है। सच बात तो यह है

कि अधिकांश आदमी हिंसा अहिंसा की सच्ची व्याख्या ही नहीं जानते। उसकी सच्ची व्याख्या इस प्रकार है :—

लोग जड़ शरीर और चैतन्य आत्माको पृथक् कर देने को हिंसा कहते हैं। किन्तु हिंसा की यह व्याख्या सत्य नहीं है। क्योंकि शरीर और आत्मा तो सदा से भिन्न ही हैं। उन्हें पृथक् करने की बात औपचारिक है। आत्मा अपने शुद्ध ज्ञायक शरीर से अभेद है। यह पुण्य पाप की वृत्तिसे रहित चैतन्य ज्ञानमूर्ति है। इस स्वरूपको न मानकर पुण्य पाप को अपना मान लिया, उसने अपने चैतन्य आत्मा को उसके ज्ञायक शरीर से पृथक माना, यही स्वहिंसा है, अथवा अपने को भूलकर परमें जितनी सुख बुद्धि मानी उतनी स्वहिंसा ही है। कोई परकी हिंसा नहीं कर सकता, मात्र मारने का पाप भाव कर सकता है।

उपरोक्त आक्षेप में आत्मधर्म वर्ष ४ अंक नं० २ पृ० नं० १८ का आधार भी बताया है यहां भी ऐसा कथन है ही नहीं किन्तु पृ० १२ में निम्न प्रकार है।

व्यवहार अभूतार्थ है इस बात का प्रकरण है—

निश्चय से तो ज्ञान ज्ञान में से ही आता है, देव-गुरु शास्त्र के आधार से ज्ञान नहीं आता, इस प्रकार निश्चय का वाक्य सुनकर यदि कोई श्रवण-मनन-पठन के शुभभावको छोड़ ही दे तो वह उल्टा अशुभभावमें लग जायगा। सत को समझने में पहले सत्समागम-श्रवण, मनन इत्यादि शुभभावरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता। फिर भी यह शुभराग ज्ञान का कारण नहीं है। किन्तु यदि कोई शुष्कज्ञानी निश्चयाभासी प्रथम भूमिका में उस शुभभावमें युक्त न हो तो अभी वह वीतराग तो हुआ नहीं है, इसलिये अशुभ में युक्त होगा और नीच गतिमें परिभ्रमण करेगा। "यदि व्यवहार न बताया जाय तो परमार्थतः शरीरसे जीव भिन्न कहा गया है, इसलिये जैसे भस्मको मसल देने में हिंसा नहीं होती, उसी प्रकार

•

त्रस स्थावर जीवों को निःशंकतया मर्दन करने पर भी हिंसा का अभाव ही सिद्ध होगा, और ऐसा होने से बंधका भी अभाव होगा"

यदि व्यवहार से शरीर और जीवका कोई भी सम्बन्ध न हो, तो ऐसी अवस्था में राग द्वेष भी न हो, सो ऐसा विकल्प भी नहीं हो सकता कि 'प्रस्तुत जीव की हिंसा कर दी' किन्तु प्रस्तुत जीवको शरीर पर राग है और इसलिये शरीर के साथ उसका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धरूप व्यवहार है, तथा स्वय भी अभी वीतराग नहीं हुआ है अर्थात् अवस्था में राग द्वेष है, सो व्यवहार है, इसलिये प्रस्तुत जीवको मारने का विकल्प होता है। प्रस्तुत जीवको मारने का विकल्प उठता है सो यह तेरा व्यवहार है। पर विकल्प भी कब उठता है कि प्रस्तुत जीवको शरीर पर ममताभाव है अर्थात् उसका शरीर के साथ निमित्त नैमित्तिक भाव वर्तमान में है सो यह उसका व्यवहार है। बस व्यवहार को जाना, इसलिये प्रस्तुत जीवको मारने का भाव हुआ। निश्चय में हिंसा का विकल्प नहीं हो सकता क्योंकि निश्चय से कोई जीव मरता नहीं है जीव और शरीर भिन्न भिन्न ही हैं, और पर को मारने में हिंसा नहीं होती, अर्थात् निश्चय में तो हिंसा का विकल्प तक नहीं होता। अब यदि व्यवहार ही न हो तो किसी को मारने का विकल्प ही न आये। मारने का विकल्प उठना ही व्यवहार है। अपने में और प्रस्तुत जीवमें—दोनों में व्यवहार है तभी विकल्प उठता है, यदि स्वयं वीतराग होता तो मारने का विकल्प न उठता और यदि प्रस्तुत जीव वीतराग होता तो भी तुझे उसको मारने का विकल्प न उठता। कभी किसी को यह भाव नहीं उठता कि मैं सिद्ध को मार डालू, इसका यह कारण है कि सिद्ध वीतराग है, उनके व्यवहारका अवलंबन शेष नहीं है, यही कारण है कि सिद्ध भगवान् के भी कभी ऐसा विकल्प नहीं उठता कि मैं अमुक जीव को मारू। व्यवहार के अवलम्बन के बिना विकल्प नहीं उठता। शरीर इत्यादि की क्रिया आत्मा कर सकता है इस मान्यता को लोग व्यवहार कहते हैं, परन्तु यह व्यवहार नहीं, यह मान्यता तो मिथ्यात्व है।

विवेचन—उपरोक्त वाक्य जीवदयारूप धर्म शीर्षक आत्मधर्म में लेख है जो पृ० ११ से १३ तक पेरा नं० ३४ से ४२ तक है उस लेखमें निम्नप्रकार से कथन आया है।

पेरा नं० ३४, ४—जीवदयारूप धर्म

लोग जीवदया के नाम से शुभरागमें धर्म मान रहे हैं परन्तु जीव-दया का यथार्थ स्वरूप समझते नहीं। क्रोधादि कषाय के वश अपनी तथा पर जीवकी हिंसा का भाव न करना सो जीवदया है। सबसे बड़ा क्रोध मिथ्यात्व है और यही वास्तव में बड़ी जीव हिंसा है। मिथ्यात्वको छोड़े बिना कभी भी जीव हिंसा नहीं रुक सकती। स्वजीव की हिंसा न करना ही मुख्य जीवदया है और जब स्वयं क्रोधादिक के द्वारा स्वजीव की-अपने आत्माकी, हिंसा नहीं की तब क्रोध के अभाव के कारण परजीवके मारने का भाव भी नहीं आया, इसलिये परजीव की दया भी आ जाती है। परन्तु स्वजीव की दया कब हो सकती है? जो जीव पुण्य से धर्म मानता है वह जीव, विकारभावके द्वारा स्वभावकी हिंसा करता है। मेरा शुद्ध स्वरूप पुण्य-पाप रहित है, ऐसा जानने के बाद दया की शुभ भावना को वह छोड़कर जब स्वरूपमें सावधान हो गया और शुद्ध ज्ञानचेतना के अनुभव में लीन हुआ सो ही जीवदया धर्म है। अर्थात् इसमें भी चेतना का शुद्ध परिणाम ही धर्म सिद्ध हुआ। वास्तवमें पर जीवको न तो कोई मार सकता है। किसी जीवको दुःख नहीं देना चाहिये। इसमें स्वयं भी अन्तर्भूत है, इसलिये कषाय के भावके द्वारा स्वको भी दुखी न करना सो वास्तवमें दया है।

अशुभ परिणाम के समय स्वयं तीव्र दुखी होता है और दया इत्यादि के शुभ परिणाम के समय भी जीवको आकुलता का ही अनुभव होता है, इसलिये वह दुखी है।

अतः अशुभ और शुभ दोनों भावों से जीव की रक्षा करना अर्थात शुभाशुभ रहित मात्र ज्ञानस्वभावरूप दशा करना सो जीवदया है। जो जीव शुद्ध ज्ञानचेतना के द्वारा स्वरूपमें एकाग्र हुआ उस जीव के अशुभभाव–हिंसाके भाव होते ही नहीं अर्थात् वहाँ परजीवकी दया स्वयं पाली जाती है।

यदि परजीव की दया पालने के शुभरागमें धम हो तो सिद्धदशामें भी परजीवकी दया का राग होना चाहिये, परन्तु शुभराग धर्म नहीं है किन्तु अधर्म है, हिंसा है।

पेरा नं० ३४—प्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा स्वभावको जानने पर श्रद्धा की अपेक्षा से अहिंसक भाव प्रगट होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्य-पाप का भाव होता है, किन्तु उसे अपना स्वभाव नहीं मानता। इसप्रकार मान्यतामें पुण्य–पाप से अपने स्वभावकी रक्षा किये रहता है इसलिये इसके यथार्थ जीवदया है। अज्ञानी जीव अपनेको क्षणिक पुण्य–पाप जितना ही मानकर त्रिकाल विकार रहित स्वभावका नाश करता है, और यही हिंसा है। और फिर "जीव दया" तो कही जाती है किन्तु "शरीर दया" नहीं कही जाती, क्योंकि शरीर जीव नहीं है। लोग शरीर की क्रिया से तुलना करते हैं सो मिथ्या है। जीव शरीरसे भिन्न चेतना-स्वरूप है, उसे श्रद्धा–ज्ञान–चारित्रमें स्थिर रखना और विकारमें नहीं जाने देना ही "जीव रक्षा" है। मैं परजीव की रक्षा करूं ऐसी दया की भावना भी परमार्थ से जीव हिंसा ही है। इसप्रकार पहले श्रद्धामें मानना चाहिये और ऐसी मान्यता होनेके वाद भी अस्थिरता के कारण शुभ विकल्प उठता है, किन्तु वह धर्म नहीं है।

नोट—देखिये यहां हिंसामें पाप नहीं ऐसा कहां आया है, स्व पर की दया के भाव में–पर जीव की दया भी पाली जाती यह बात स्पष्ट आई है।

शास्त्राधार—भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार बंधाधिकारमें जो अनेकान्त सिद्धांत कहा है वह पं० प्रवर श्री टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३३१ से ३३३, देहली से प्रकाशित में निम्न शब्दों में कहा है—

"बहुरि आस्रवतत्त्व विषै हिंसादि रूप पापास्रव है, तिनको हेय जाने है। अहिंसादिरूप पुण्यास्रव है, तिनको उपादेय माने है। सो ये तो दोऊ ही कर्मबंधके कारण हैं, इन विषै उपादेयपनो माननो, सो ही मिथ्यादृष्टि है। सो ही समयसार बंधाधिकार विषै कहा है—

आधार नं० २-समयसार बंधाधिकार कलश १६६ में कहा है कि सब जीवों के जीवन मरण-सुख दुःख अपने कर्म के निमित्त से होते हैं—
अज्ञानमेत,धिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरण जीवित दुःख-सौख्यम्।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति॥

अर्थ-इस अज्ञानको प्राप्त करके जो पुरुष परसे परके मरण जीवन सुख, दुःखको देखते हैं अर्थात् मानते हैं, वे पुरुष-जो कि इसप्रकार अहंकाररससे कर्मोंको करनेके इच्छुक हैं अर्थात् मैं इन कर्मों को करता हूं, ऐसे अहंकार रूपी रस से जो कर्म करने की-मारने-जिलाने की सुखी-दुखी करने की वांछा करने वाले हैं वे-नियमसे मिथ्यादृष्टि हैं, अपनी आत्मा का घात करने वाले हैं।

दया का लक्षण—

आधार ३-यत् निजस्वभाव विकारभावेन न घातयति न हिनस्ति, निजस्वभाव पालयति तदेव सैव दया॥ ६॥

आत्म अवलोकन ग्रन्थ पृ० १८४

अर्थ— विकारमय परिणामों द्वारा अपने निज स्वभावका घात नहीं करना, अपने स्वभावका पालन करना ही दया है।

आधार नं० ४—ज्ञानी धर्मात्माको भूमिकानुसार

सच्ची आत्मा की दृष्टि में विकार नहीं है, क्योंकि विकार क्षणिक अवस्था है, इसलिये वह पर्यायार्थिक नयसे है, पर पराश्रित है इसलिये व्यवहार है, जो व्यवहार है वह संयोगाधीन भाव है, वह छोड़ने योग्य है, जो यह नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

आत्मा ने अनन्त काल में यह बात कभी नहीं सुनी, तब फिर सच्चा मनन कहा से करेगा। व्रत-तप, दयादि के शुभ भाव हो अथवा चोरी हिंसा आदि के अशुभभाव हों सो वे दोनों विकार हैं, पचन हैं मात्र अशुभ से छूटने के लिये शुभभाव ठीक हैं, किंतु उनसे धर्म नहीं होता, इसप्रकार जब तक नहीं समझता तब तक जीव परके कर्तृत्व का अभिमान करके परिभ्रमण करता रहता है। जो अविकारी शुद्ध स्वभावको अपना समझता है, उसके परवस्तु की तृष्णा कम हुए बिना नहीं रहती। अज्ञानी जितना कर सकता है उससे अनेक गुणा शुभभाव ज्ञानी की भूमिका में हो जाता है जब तक ज्ञानी के पूर्ण वीत रागता प्रगट न हुई हो तब तक निम्न भूमिका में अशुभ से बचने के लिये उसके शुभभाव होता तो है, किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता।

रजकण देहादि की प्रवृत्ति और पुण्य पाप आदि कोई मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसी प्रथम श्रद्धा होनेपर ही ज्ञानी के परमें आसक्तिका प्रेम दूर हो जाता है, फिर विवेक सहित अशुभराग घटाने के लिए दानादिके द्वारा वह तृष्णा घटाये बिना नहीं रहता, जिस भावसे बंध होता है उस भाव से धर्म नहीं होता"।

आधार नं० १—श्री प० टोडरमलजी ने भी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ २३२ में निम्न प्रकार लिखा है, "तहां अन्य जीवों को जिलावने का वा सुखी करनेका अध्यवसाय होय सो पुण्य बंधका कारण है। तातैं हिंसादिवत् अहिंसादिक को भी बंधका कारण जानि हेय ही"

विषेचन—उपरोक्त वाक्य जिसप्रकार से काट छाटकर प्रस्तुत किया गया है वैसा तो कहीं भी नहीं आया लेकिन छहढाला के द्वितीय ढालमें कुदेव कुधर्म, कुगुरु के लक्षणोंमें, गृहीत मिथ्याज्ञानके लक्षणमें निम्नप्रकारसे आया है, वहां पर सम्यग्ज्ञान अर्थात् सच्चे शास्त्रोंका विषय ही नहीं है वहा तो मात्र कुशास्त्र की बात है। और श्वेताम्बर शास्त्रोंमें व्रत दान, दयादि के शुभ भावों से संसार परित होना लिखा है, दिगम्बर शास्त्र तो दयादि के शुभभावोंसे पुण्यबंध होना मानते हैं संसारका अभाव होना नहीं मानते अत उपरोक्त दृष्टि से निम्न कथन आया है।

गृहीत मिथ्यात्वका कथन ढाल २ के ६ पद्य से नीचे माफिक है—

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषे चिरदर्शन मोह एव।
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहर धन अंबरतै सनेह॥ ६॥
धारैं कुलिंग लहि महतभाव, ते कुगुरु जन्मजल उपलनाव।
जो राग द्वेष मल करि मलीन वनिता गदादियुत चिह्न चीन॥१०॥
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भवभ्रमण छेव।
रागादि भाव हिंसा समेत, दर्वित त्रस थावर मरणखेत॥ ११॥
जे क्रिया तिन्हें जानहु कुधर्म, तिन सरधैं जीव लहै अशर्म।
याकू गृहीत मिथ्यात्व जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान॥१२॥
एकान्तवाद — दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादि-रचित श्रुतको अभ्यास सो है कुबोध बहु देन त्रास॥१३॥
जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करण विविध विध देहदाह।
आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन॥१४॥

पद्य १३ के उत्तरार्ध का अर्थ जिसमें आक्षेप के शब्द इसप्रकार आये हैं —५ जगत का कोई कर्ता हर्ता तथा निमाता है ऐसा वर्णन करे अथवा, ६—दया दान महाव्रतादि के शुभ भावसे ससार परित, अल्पमर्यादित होना बतलाये, तथा उपदेश देनेके शुभभाव से धर्म होता है आदि

जिनमें विपरीत कथन हो, वे
कुशास्त्र हैं, क्योंकि उनमें प्रयो
समझना चाहिये।

नोट—उपरोक्त विषय
नवीन संस्करण जो सोनगढ़
स्पष्टीकरण और भी कर दिया

६—दया दान महाव्र
तथा मुनि को आहार देनेके शु
उपदेश देनेके शुभभावसे ध

साधक है तातैं महाव्रतादिरूप आस्रव भावनिको चारित्रपनो सभव नाहीं । सकल कषाय रहित जो उदासीन भाव ताहि का नाम चारित्र है।

बाह्य व्रतादिक हैं, सो तो शरीरादि परद्रव्य के आश्रय हैं। पर द्रव्यका आप कर्ता है नाहीं। तातैं तिस विषै कर्तृत्वबुद्धि भी न करनी अर तहां ममत्व भी न करना बहुरि व्रतादिक विषै ग्रहण त्यागरूप अपना शुभोपयोग होय, सो अपने आश्रय है। ताका आप कर्ता है, तातैं तिसविषैं कर्तृत्वबुद्धि भी माननी। अर तहा ममत्व भी करना। बहुरि इस शुभोपयोग को बधका ही कारण जानना। मोक्षका कारण न जानना। जातैं बध अर मोक्षकैं तौ प्रतिपक्षीपना है, तातैं एक ही भाव पुण्यबधको भी कारण होय, और मोक्षको भी कारण होय एसा मानना भ्रम है।

उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग को मोक्षमार्ग कहा है। वस्तु विचारतैं शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है जातैं बधका कारण सोई मोक्षका घातक है एसा श्रद्धान करना। शुद्धोपयोग ही को उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग अशुभोपयोग को हेय जानि तिनके त्याग का उपाय करना। जहा शुभोपयोग न होय सके, तहा अशुभोपयोग को छोडि शुभ ही विषैं प्रवतना।

कोई ऐसे मानै कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग को कारण है सो जैसे अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है वैसे शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है। ऐसे ही कार्य—कारणपना होय तो शुभोपयोग का कारण अशुभोपयोग ठहरे अथवा द्रव्यलिंगी के शुभोपयोग तो उत्कृष्ट हो है शुद्धोपयोग होता हो नाहीं। तातैं परमार्थतैं इनके व्रतादिक शुभोपयोग को और शुद्धभावको कारण-कार्यपना है नाहीं।

अत उपरोक्त कथन से सिद्धात का घात नहीं अपितु सिद्धातका समर्थन ही होता है।

आधार १-श्री बनारसीदासजी कृत समयसार नाटक, बंध अधिकार दोहा नं॰ १८,

उत्तम पुरुष का स्वभाव, सवैया ३१ सा—
कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेश पद,
मीचसी मिताइ गरुवाइ जाकै गारसी।
जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति,
हहरसी हौस पुद्गल छवि छारसी॥
जालसौ जग विलास भालसौ भुवन वास,
कालसौ कुटुम्ब काज लोक लाज लारसी।
सीठसौ सुजस जानै बीठसौ बखत मानै
ऐसी जाकी रीति ताहि बंदत बनारसी॥ १६॥

इसका श्री राजचन्द्रजी द्वारा अर्थ —जो कंचन को कीच के समान जानता है राजगद्दी को नीचपद के समान, किसीसे स्नेह करना मरण के समान, बड़प्पन को घर पोतनेक गोबर-मिट्टीके समान, कीमियादि जोगको जहर समान, सिद्धि आदि ऐश्वर्यको असाता के समान, जगतमें पूज्यता होने आदि की हौंश (रुचि) को अनर्थ के समान, पुद्गल की छवि ऐसी यह औदारिक आदि शरीर को राख जैसा, जगत के भोग विलास को घबराहटरूप फन्दे जालके समान, गृहवासको भालेके समान, कुटुम्ब कार्यको मृत्युवत्, लोगोंमें प्रतिष्ठा बढ़ानेकी इच्छाको मुखमें से टप कने वाली लार क समान, कीर्ति की इच्छाको नाकके मैलवत् और पुण्योदयको जो विष्टा क समान जानता है, ऐसी जिनकी रीति होती है उन्हींको, बनारसीदास वंदना करते हैं।

आधार २—चक्रवर्ति की सपदा, इन्द्र सारिखे भोग।
काक बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

ज्ञानीको भूमिकानुसार, व्रत, दया दान पूजादिक के शुभभाव होते हैं अवश्य, किन्तु वे श्रद्धामें उन्हें हेय समझते हैं, आस्रवतत्त्व समझते हैं। फिर भी भूमिकानुसार शुभ व्यवहार निमित्तरूपसे इस ही प्रकारके आते हैं, उनका ज्ञान करानेके लिए और अशुभ पापसे बचनेके लिए उसे असद्भूत व्यवहारनयसे व्यवहारधर्म कहा है।

अत: उपरोक्त कथन नं० ५ यथार्थ है।

कथन नं० ६—

दान पूजादि शुभभावोंसे धर्म मानना त्रिकाल मिथ्यात्व है

(समयसार प्रवचन भा० २ पृ० ८)

विवेचन—उपरोक्त विषय समयसार गा० १३ के प्रवचनमें निम्न प्रकारसे आया है जिसको प्रस्तावमें तोड़ मरोड़कर विपरीत रूपमें उपस्थित किया गया है।

"जिसने ऐसे नवतत्त्वोंको नहीं जाना उनकी यहां बात नहीं है। वीतरागदेवके शास्त्रों से या सत्समागमसे जिसने सच्चे नव तत्त्वोंको जान लिया तथापि यदि वह नवतत्त्वों के विकल्पोंमें ही लगा रहे तो उसका संसार बना रहेगा। नव प्रकार में से शुद्धनयके द्वारा एकरूप ज्ञायक हूं इसप्रकार एक परमार्थ स्वभाव को ही स्वीकार करना सम्यक्त्व है। **दान पूजादि इत्यादि शुभ भाव है और हिंसा भ्रम व मादि अशुभ भाव हैं। उन शुभ अशुभ भावोंके करनेमें धर्म होता है यह मानना सो त्रिकाल मिथ्यात्व है, इससे पुण्यको शुभभावको छोड़कर पापमें जाने को नहा कहा है।** विषय कषाय देहादिमें आसक्ति, रुपया पैसा और रागकी प्रवृत्तिरूप व्यवसाय इत्यादि समस्त भावोंमें मात्र पापरूप अशुभभाव है और दानादिमें तृष्णा की कमी अथवा कषाय की मंदता इत्यादि हो तो वह शुभभाव पुण्य है, इसप्रकार पुण्यपापको व्यवहारसे

ही भाव पुण्य बंधको भी कारण होय अर मोक्षको भी कारण होय ऐसा माननां भ्रम है। तातैं व्रत अव्रत दो विक प रहित जहा परद्रव्य के ग्रहण त्यागका कुछ प्रयोजन नाहीं, ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग सोई मोक्षमार्ग है।"

अत कथन नं० ६ निर्दोष है।

कथन नं० ७—

जैन गजट में ता० २० मई १६६४ में कथन नं० ७ में "जिनवाणी परस्त्री समान है, मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० ८ ऐसा लिखा है किंतु दूसरे नये पोस्टर में "जिनवाणी पर है और परस्त्री भी पर है (आधार मोक्षमार्ग प्र० किरण पृ० १०) ऐसा लिखा है यह परिवर्तन कैसे किया समझ में नहीं आता।

विवेचन—मोक्षमार्ग प्र० किरण भाग १ तथा भाग २ के उपरोक्त किसी भी पृष्ठ पर कहीं भी ऐसा कथन नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण भाग २ आवृत्ति २ पृ० ६४ में निम्न प्रकार कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ के विवेचनमें मिलता है।

यहां लिखा है कि "इसप्रकार चारों अनुयोग कार्य कारी हैं"

प्रश्न—पद्मनन्दी पचविंशतिका में ऐसा कहा है कि जो आत्मस्व रूपतैं निकसि बाह्य शास्त्रनिविषैं बुद्धि विचरै है सो वह बुद्धि व्यभिचारिणी है।

उत्तर—पद्मनन्दी भगवान् ऐसा कहते हैं कि आत्मासे च्युत होकर जिसकी बुद्धि शास्त्रमें जाती है वह व्यभिचारिणी है, यह तो सत्य है पर-द्रव्यका ज्ञान करना यह रागका कारण नहीं है किन्तु परद्रव्यमें प्रेम हुआ है उसे व्यभिचारिणी कहा है। ज्ञानीको भी परमें बुद्धि जाने से जितना राग होता है उतना नुकसान है, इसलिये उस बुद्धिको व्यभिचारिणी कहा है, इस अपेक्षासे यह बात की है। जिसे भगवान् आत्माका निर्णय हुआ

कथन नं० ८—

हिंसा करने के समय कसाई को अल्प पुण्य होता है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण अ० ३ पृ० १२२

विवेचन—यहाँ ऐसा कथन नहीं लिखा गया है, सम्पूर्ण विवेचनको सूक्ष्मतासे पढ़कर निर्णय करना चाहिये।

पुण्य-पाप अकेले नहीं होते, धर्म अकेला होता है चाहे जैसा तीव्रसे तीव्र अशुभ परिणाम करे तथापि उस समय जो पाप बंध होता है उसी के साथ अमुक पुण्य बंध भी (अल्प स्थिति बंध वाला) होता ही है। उसीप्रकार चाहे जैसा शुभ परिणाम करे तथापि उस समय जो पुण्यबन्ध होता है, उसीके साथ अमुक पाप बंध (अल्प स्थिति बन्धवाला) होता ही है, (घाति कर्म सब पाप ही है अर्थात् उनमें भेद नहीं है) पुण्य पाप रहित मात्र शुभभाव अकेला हो सकता है, किन्तु अकेला पुण्य या अकेला पाप किसी जीवको नहीं हो सकता पुण्य पाप (गौण मुख्य) दोनों ही होते हैं, यदि मात्र पुण्य ही हो जाय तो संसार ही नहीं हो सकता। और मात्र पाप ही हो जाय तो चैतन्यका ही सर्वथा लोप हो जाय अर्थात् आत्मा का ही विनाश हो जाये।

निगोद के जीव को भी अमुक मंदकषाय तो होती ही है। उसके जो चैतन्यका विकास है वह मंदकषाय का फल है। यदि कषायरूप पुण्य सर्वथा न हो (एकान्त पाप ही हो) तो चैतन्य नहीं रह सकता, और वर्तमानमें चैतन्यका जितना विकास है वह बंधका कारण नहीं होता। हिंसा करते समय भी कसाई को अल्प पुण्यबंध होता है। हिंसाभाव पुण्यबन्धका कारण नहीं है, किन्तु उसी समय चैतन्य का अस्तित्व है, ज्ञानका अंश उस समय भी रहता है, उससे सर्वथा पापमें युक्तता नहीं होती।

आधार न० २—

गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा १६३ में भी यही बात है।

(रायचन्द ग्रन्थमाला प्रथमावृत्ति पृ ६६)

शुभ प्रकृतिनां विशेधा तीव्र अशुभाना सक्लेशेन।
विपरीतेन जघन्य अनुभाग-सर्व प्रकृतीनाम् ॥ १६३ ॥

अर्थ—साता वेदनीयादि शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंका अनुभाग बध विशुद्ध परिणामों से उत्कृष्ट होता है। असाता वेदनीयादि प्रकृतियोंका अनु भाग बन्ध क्लेशरूप परिणामों से उत्कृष्ट होता है और विपरीत परिणामोंसे (ऊपर कहे गये से उलटा करने पर) जघन्य अनुभाग बन्ध होता है, अर्थात् शुभ प्रकृतियों का सक्लेश (तीव्र कषायरूप) परिणामों से ज० अनुभाग बन्ध और अशुभ प्रकृतियों का विशुद्ध (मदकषाय रूप) परिणामों से जघन्य अनुभाग बन्ध होता है, इसप्रकार सब प्रकृतियोंका अनुभाग बन्ध समझना ॥ १६३ ॥

आधार (३)—मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० २ पृ० ४०, ४१ देहलीमें भी निम्नप्रकार है—

"तहां घातिकर्मनिकी सब प्रकृतिनिविषैं वा अघाति कर्मनिकी पाप प्रकृतिनि विषैं तो अल्पकषाय होतैं थोड़ा अनुभाग बँधै है। बहुत कषाय होतैं घना अनुभाग बंधै है। बहुरि पुण्य प्रकृतिनिविषैं अल्प कषाय होतैं घना अनुभाग बँधै है। बहुत कषाय होतैं थोरा अनुभाग बंधै है। ऐसैं कषायनि करि कर्म प्रकृतिनिके स्थिति अनुभाग का विशेष भया तातैं कषायनि करि स्थिति बंध अनुभाग बन्ध का होना जानना। अत कथन नं० ८ भी शास्त्र सम्मत है।

आधार न० २—

गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा १६३ में भी यही बात है।

(रायचन्द्र ग्रन्थमाला प्रथमावृत्ति पृ ६६)

शुभ प्रकृतिना विशेधा तीव्र अनुभाना सक्लेशेन।
विपरीतेन जघन्य अनुभाग–सर्व प्रकृतीनाम् ॥ १६३ ॥

अर्थ—साता वेदनीयादि शुभ (पुण्य) प्रकृतियोंका अनुभाग बंध विशुद्ध परिणामों से उत्कृष्ट होता है। असाता वेदनीयादि प्रकृतियोंका अनुभाग बंध क्लेशरूप परिणामों से उत्कृष्ट होता है और विपरीत परिणामोंसे (ऊपर कहे गये से उलटा करने पर) जघन्य अनुभाग बंध होता है, अर्थात् शुभ प्रकृतियों का सक्लेश (तीव्र कषायरूप) परिणामों स ज० अनुभाग बंध और अशुभ प्रकृतियों का विशुद्ध (मदकषायरूप) परिणामों से जघन्य अनुभाग बंध होता है, इसप्रकार सब प्रकृतियोंका अनुभाग बंध समझना ॥ १६३ ॥

आधार (३)—मोक्षमार्ग प्रकाशक अ० २ पृ० ४०, ४१ देहलीमें भी निम्नप्रकार है—

"तहां घातिकर्मनिकी सब प्रकृतिनिविषैं वा अघाति कर्मनिकी पाप प्रकृतिनि विषैं तो अल्पकषाय होतैं थोड़ा अनुभाग बँधै है। बहुत कषाय होतैं घना अनुभाग बधै है। बहुरि पुण्य प्रकृतिनिविषैं अल्प कषाय होतैं घना अनुभाग बँधै है। बहुत कषाय होतैं थोरा अनुभाग बधै है। ऐसैं कषायनि करि कर्म प्रकृतिनिके स्थिति ...) भया तातैं कषायनि करि स्थिति बंध अनुभाग ... अत्...कथन... नं० ८ भी ... है।

मुनिका सच्चा लक्षण—

अब मुनिकी सच्ची परीक्षा करते हैं। मुनिके व्यवहार होता अवश्य है, किन्तु उससे उनकी सच्ची परीक्षा नहीं होती। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनिका सच्चा लक्षण है।

शास्त्राधार नं० १—

श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सर्वज्ञ भगवान् की साक्षी देकर कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्ता हो सकता है ऐसा माननेवाले द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं सर्वज्ञके मतसे बाह्य हैं, देखो समयसार गा ८६, ८७ तथा उनकी टीका तथा समयसार गाथा ३२१ से ३२३।

आधार नं० २—

--- गुरु का स्वरूप समझनेमें अज्ञानीको भूल किसप्रकार होती है इसका मोक्षमार्ग प्रकाशकके पृ० ३२७ में निम्नप्रकार वर्णन किया है कि—

"कोइ जीव परीक्षा भी करे है तहा मुनि दया पाले है, शील पाले है, धनादि नाहीं राखे है, उपवासादि तप करे है, क्षुधादि परिषह सहे है, किसीसे क्रोधादि नाहीं करे, उपदेश देय औरनिको धर्म विषै लगावै है, इत्यादि गुण विचारि तिनविषै भक्तिभाव करे है। सो ऐसे गुण तो परमहंसादि अन्यमत में है, तिन विषैं या जैनी मिथ्यादृष्टिनि विषै भी पाइये है। तातैं इनि विषैं अतिव्याप्तिपनां है। इनि करि साची परीक्षा होय नाहीं। बहुरि जिन गुणों को विचारै है तिन विषैं कई जीवाश्रित है, केई पुद्गलाश्रित है, तिनका विशेष न जानना, असमानजातीय मुनिपर्यायविषैं एकत्व बुद्धितैं मिथ्यादृष्टि ही रहै है। बहुरि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग सोई मुनिनका साचा लक्षण है।"

आधार नं० २—

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३३१ में भी कहा है कि "जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धिकरि जानपना विषैं वा वर्णादिविषैं अहंबुद्धि धारै है, तैसैं यहु भी आत्माश्रित ज्ञानादिविषैं वा शरीराश्रित उपदेश उपवासादि क्रियानिविषैं आपो मानैं है।"

नोट—देखो जिसप्रकार शरीराश्रित क्रिया जड़ है, उसका कर्ता आत्मा नहीं है, इसप्रकार वचनरूप उपदेश भी आत्मा की क्रिया नहीं है। उसको मुनिका लक्षण माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, ऐसा सिद्ध होता है।

अतः कथन नं० ९ शास्त्र सम्मत है।

कथन नं० १०—

"तीर्थंकरकी वाणीसे किसी को लाभ नहीं होता"

: मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० २१२ :

विवेचन—यह विषय मोक्षमार्ग प्रकाशक के अ० ७ बन्धतत्त्वके श्रद्धानमें अयथार्थता के विषयमें आया है। तीर्थंकर की वाणी से लाभ होता है यह कथन व्यवहारनय का निमित्त का ज्ञान कराने के लिये किया जाता है इसको वास्तविक स्वरूप मानना दो द्रव्यकी एकताबुद्धि है। यह प्रसंग मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० २०८ से २१२ में वर्णित है :—

"तीर्थंकर की वाणीसे किसी को लाभ नहीं होता (क्योंकि) जिस परिणामसे तीर्थंकर पुण्य प्रकृति का बन्ध हुआ वह परिणाम जीवको अपने लिये हेय है और प्रकृति (कर्म प्रकृति) अहितकर है, तो फिर दूसरोंको हितकर कैसे हो सकती है। अज्ञानी जीव तीर्थंकर पुण्य प्रकृतिसे लाभ मानता है और उससे अनेक जीव तरते हैं ऐसा मानता है वह भूल है। (वास्तवमें क्या है) जीव स्वयं अपने कारण तरता है तब तीर्थंकर की वाणी को निमित्त कहा जाता है—ऐसा वह (अज्ञानी) नहीं समझता।

इसप्रकार शुभाशुभ भावों द्वारा कर्मबन्ध होता है, उसे भला बुरा जानना ही मिथ्या श्रद्धान है और ऐसे श्रद्धानसे बन्धतत्त्व का भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।"

उपरोक्त कथन मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० २१२ में है।

इस विषयमें श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला—श्री पूज्यपादाचार्य कृत इष्टोपदेश गा० ३४-३५ पृ० ४१-४३ में कहा है कि —

दोहा—आपहिं निजहित चाहता, आपहि ज्ञाता होय।
आपहिं निजहित प्रेरता, निज गुरु आपहि होय ॥३४॥

यहाँपर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरों की क्यों सेवा करनी होगी ? बस सब आपसमें खुदका खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकों की सेवा मुमुक्षुओं को नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा मानने से अप सिद्धान्त हो जायेगा। ऐसे बोलनेवाले शिष्यके प्रति आचार्य जवाब देते हैं—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

दोहा—मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय।
निमित्तमात्र पर जान जिमि गति धर्म तें होय ॥३५॥

समयसार प्रवचन भाग १ आवृत्ति २ पृ० १३८ में गाथा ४ के वर्णनमें श्री कानजी स्वामी ने कहा है कि 'तीर्थंकर भगवान् की वाणी से लाभ क्यों नहीं हुआ कि त्रिकाल साक्षीरूप भगवान आत्माको नहीं जाना इसलिये सर्वज्ञ भगवान् के पास अनन्तबार जाने पर भी पुण्य पाप मेरे हैं मैं परका आश्रय वाला हूँ, ऐसे पराश्रित भावकी पकड़ होने से केवलज्ञानी भगवान् के पास से भी कोरा का कोरा यों ही लौट आया।"

आत्मधर्म वर्ष १६ अंक नं० ६ पत्र ३१६–१७ में समयसार गा० ४ के प्रवचनमें भी तीर्थंकर की वाणी से लाभ क्यों नहीं हुआ उसका स्पष्टीकरण निम्नप्रकार है:—

प्रश्न—प्रभो! अनंतवार समवसरण में जाकर श्रवण किया है, फिर भी आप ऐसा क्यों कहते हैं कि श्रवण नहीं किया ?

उत्तर—समवसरणमें जाकर श्रवण किया और संतों से भी सुना, किन्तु उसे वास्तवमें श्रवण नहीं कहते, क्योंकि सर्वज्ञो और संतों का जैसा आशय था वैसा लक्ष्यमें नहीं लिया, इसलिये श्रवण नहीं किया है यह कहा है।

अनादिकालसे जो विपरीत रुचि थी वैसी ही रुचिका मंथन दिव्यध्वनि सुनते समय भी होता रहा, इसलिये दिव्यध्वनि श्रवण करने का कोई फल नहीं मिला। उपादानमें कुछ अन्तर तो नही पड़ा इसलिये वास्तवमें उसने शुद्धात्माकी वात सुनी ही नहीं उसने भगवान् की वात का श्रवण ही नहीं किया है।

भले ही समवसरणमें जाये और दिव्यध्वनि सुने, किन्तु जिसकी रुचिमें ही विकार भरा है उसे शुद्धात्मा की सुगंध रुचि नहीं आती। जीवोंने अंतरमें विकार की रुचि रखकर श्रवण किया इसलिये उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद नहीं आया।

आधार नं० १—योगीन्दु देवकृत योगसार दोहा नं० ५३ में भी स्पष्ट कहा है कि—

शास्त्रं पठन्तः ते अपि जड़ा आत्मानं ये न जानन्ति।
तस्मिन् कारणे (तेन कारणेन) एते जीवाः स्फुटं न खलु निर्वाणं लभन्ते ॥५३॥

अर्थ—जो शास्त्रोंको तो पढ़ लेते हैं परन्तु आत्मा को नहीं जानते वे लोग भी जड़ ही हैं। तथा निश्चय से इसीकारण ये जीव निर्वाण को नहीं पाते यह स्पष्ट है।

नोट—शास्त्र अथवा भगवान् की दिव्यध्वनि दोनो एक ही हैं।

आधार नं० ७–निमित्तों से जीवका भला नहीं होता इस बातका भैया भगवतीदासजी ने ब्रह्म विलास पृ० २३२ से ६ में ४७ दोहों में अत्यन्त स्पष्ट कहा है उसमें दोहा नं० ८ में यही कहा है कि—

देव जिनेश्वर गुरु यती, अरु जिन आगम सार।
इहि निमित्ततें जीव सब, पावत हैं भवपार॥८॥

इस कथन का खंडन करते हुए उपादान का कथन निम्नप्रकार है कि—

यह निमित्त इस जीवको, मिल्यो अनंतीबार।
उपादान पलटयो नहीं, तो भटक्यो संसार॥६॥

आगे फिर कहा है कि—

उपादान कहे तू कहा, चहुगतिमें ले जाय।
तो प्रसादतें जीव सब, दुखी होंहि रे भाय॥३१॥

अत: कथन नं० १० भी आगम सम्मत है।

कथन नं० ११

"सम्मेदशिखर गिरनार आदि के वातावरणसे धर्मकी रुचि होती है ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है"

(मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० १७०)

विवेचन—यहां भी जिसरूपमें कथन उद्धृत किया गया है वैसा नहीं है अत: मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० १६९ १७० में अध्याय ७ के प्रवचनका पूर्ण प्रसंग प्रस्तुत किया जाता है।

परिणाम शुद्ध हुए बिना व्यवहारसे अरिहन्त को भी स्वर्ग मोक्षादि के दाता कहा नहीं है। अरिहंत देव तथा वाणी पर वस्तु है। शुभभाव पुण्याश्रव है उससे रहित चिदानंद की दृष्टिपूर्वक शुद्ध परिणाम करे–वह मोक्ष दातार है तो अरिहंतको उपचारसे

मोक्षदातार कहा जाता है। जितना शुभभाव शेष रहता है उसके निमित्त से स्वर्ग प्राप्त होता है। तो फिर भगवान् को निमित्तरूपसे स्वर्गदाता भी कहा जायगा। यदि भगवान् इस जीवके शुभ या शुद्ध परिणामों के कर्ता हों तो वे निमित्त नहीं रहते किन्तु उपादान हो गये इसलिए यह भूल है।

कोई यह कहे कि सम्मेदशिखर और गिरनार का वातावरण ऐसा है कि धर्मकी रुचि होती है तो ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। पुनश्च यह कहते हैं कि अरिहंत भगवान्का नाम सुनकर कुत्तों आदिने स्वर्ग प्राप्त किया है, अब अज्ञानी तो मानता है कि भगवान् के नाममें तो बड़ा अतिशय है किन्तु यह भ्रान्ति है (क्योंकि) अपने परिणामोंमें कषायकी मंदता हुए विना मात्र नाम लेनेसे स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती तो फिर नाम सुननेवालों को कहां से होगी। परिणाम के बिना फल नहीं है। नाम तो परवस्तु है यदि उससे शुभ परिणाम हों तो सबके होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता—जो दृष्टान्त दिया गया है उसमें उन श्वानादिकने अपने परिणामों में कषाय की मंदता की है, और उसके फलस्वरूप स्वर्ग की प्राप्ति हुई है। नाम के कारण शुभभाव नहीं होते, कोई भगवान् के समवसरणमें गया अथवा मंदिरमें गया किन्तु वहां व्यापारादिक के अशुभ परिणाम करे तो क्या भगवान् उन्हे बदल देंगे। अपने पुरुषार्थ पूर्वक शुभभाव करे तो भगवान्को निमित्त कहा जाता है, यहां भगवान् के नाम की मुख्यता करके उपचारसे कथन किया है (मोक्षमार्ग किरण पृ० १७०)

इस प्रसंग में तीर्थयात्रा के प्रति अपूर्व भक्ति करते हुए पूज्य स्वामीजीका निम्न प्रवचन आत्मधर्म वर्ष १६ अंक ६ सीरियल नं० १८८ के पत्र ३२८ व ३२६ पठनीय हैं जिससे ज्ञात होगा कि उन्हें तीर्थोंके प्रति कितनी भक्ति है—

"अहा, सवेरे इस पावागढ क्षेत्र पर आये, तभीसे लव-कुशकी याद आरही है—उनका जीवन मानो दृष्टिके समक्ष ही तैर रहा है—दोनों

रामपुत्र विवाहित थे, फिर भी अतरमें भान था कि अरे ! इस क्षणभगुर ससारमें कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी कौन पुत्र और कौन माता ? पुत्रको माताने गोदमें लिया उसके पूर्व तो अनित्यताने उसे अपनी गोदमें ले लिया है। माता पुत्रको गोदमें लेकर उसका मुह देखे उसमे पूर्व ही अनित्यता उसे पकड लेती है। प्रतिक्षण उसकी आयु कम होने लगती है। ऐसा है यह अनित्य ससार। संयोगों की स्थिति ही ऐसी है, इसमें कहीं शरण नहीं है, माता की गोद भी अशरण है, वहाँ दूसरे की क्या बात ! हम तो अब अपने नित्य चिदानन्द स्वभावकी गोदमें जायेंगे—वही हमारे लिये शरणभूत है तथा उसीमें हमारा विश्वास है। जहा हमारा विश्वास है वहीं हम जायेंगे। अनित्य सयोगोंका विश्वास हमें नहीं है, इसलिये उनमें हम नहीं रहेंगे—सयोगोंके ओरकी वृत्ति छोड़कर हम असयोगी स्वभावमें स्थिर होंगे।—हमें निःशक विश्वास है कि स्वभावमें ही हमारा सुख है और सयोगमें सुख नहीं है। अनादिसे हमारे साथ रहनेवाला ऐसा जो हमारा नित्य चिदानद स्वभाव उसीका विश्वास करके अब हम उसीके पास जायेंगे—सयोगसे दूर और स्वभावके निकट । उस स्वभावका मार्ग हमने देखा है उसी परिचित मार्ग पर चलकर हम मुक्ति सुन्दरी का वरण करेंगे।

देखो, यह निःशंकता ! धर्मात्माको अतरमें यह निःशंक प्रतीति होती है कि—हमने मार्ग देखा है.. और उसी मार्ग पर चल रहे हैं यही मार्ग होगा या दूसरा ? आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ होगा या नहीं ? ऐसा कोई संदेह धर्मीको नहीं होता। हमने अपने स्वानुभवसे मार्ग देखा और उसी परिचित मार्ग पर हमारा आत्मा चल रहा है—ऐसी निःशक दृढता धर्मात्मा को होती है। ऐसे निःशंक निर्णयपूर्वक दोनों राजकुमार दीक्षा लेकर चैतन्यमें लीन हुए और केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धपुरमें पहुँचे। इस पावागढ क्षेत्रके जिस स्थानसे उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, उसीके ठीक उपर इस समय सिद्धभगवान् के रूपमें विराज रहे हैं

ऊपर अनन्त सिद्धभगवन्तों का समूह बैठा है। उन सिद्धोंका स्मरण बहुमान करनेमें यह सिद्धक्षेत्र निमित्त है।

लव-कुशकुमार, लाड देशके नरेन्द्र और पांच करोड़ मुनिवरने यहीं से मोक्ष प्राप्त किया और इस समय लोकाग्रमें विराजमान हैं, ऐसे सिद्धभगवान् को यथार्थरूपसे जानले तो संसारका विश्वास उड़ जाये और सिद्धभगवान् जैसे चिदानन्द स्वभाव का विश्वास हो तथा सिद्धिका पंथ मिलजाये......इसका नाम तो तीर्थयात्रा! ऐसी तीर्थ-यात्रा करनेवाला जीव संसारसे पार हुए बिना नहीं रहता।"

सिद्धक्षेत्र पर अतीन्द्रिय भोजनका आमंत्रण करनेवाला पू० स्वामीजीका प्रवचन आत्मधर्म वर्ष १६ अंक ८ सीरियल नं० १८८ के पत्र ३३१ पर—

देखो, इसमें सम्यग्दर्शन प्रगट करने तथा मोक्षमार्ग होने की बात है। लव-कुशके आत्माओंने किसप्रकार सिद्धपद प्राप्त किया-वह बात भी इसमें आजाती है। यही मुक्तिका मार्ग, यही सच्चा मंगल तथा यही भव्य जीवों को शरणभूत है।

धर्मात्मा मुनीश्वरोंको अपना एक चिदानन्द स्वभाव ही प्यारा है, और जो वस्तु स्वयंको प्रिय लगती है उसीके लिये जगतको आमंत्रित करते हैं कि हे जीवो! तुम भी ऐसे चिदानन्द स्वरूपी हो, तुम भी उसीका आश्रय करके अतीन्द्रिय आनन्दका भोजन करो।

जिसप्रकार तीर्थमें संघको भोज देते हैं अथवा विवाहादि कार्योंमें प्रीतिभोज दिया जाता है, उसीप्रकार यहाँ मोक्षको साधते-साधते मोक्षमार्गी सन्त जगतको अतीन्द्रिय आनन्दका भोज देते हैं—मोक्षके मण्डपमें सारे जगतको आमंत्रित करते हैं कि हे जीवो! आओ.. .आओ.... । तुम भी हमारी भाँति आत्मोन्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्दका भोजन करो...उसका स्वाद लो।

आज यात्राका प्रथम दिवस है मोनगढ़से निकलनेके बाद पहली यात्रा इस पावागढ़ सिद्धक्षेत्र की हुई है–यहाँ लव कुश मुनिवरों का स्मरण करके यह बतलाया है कि उन्होंने किसप्रकार मोक्ष प्राप्त किया। उस मार्गको समझकर अन्तरोन्मुख होना सो सिद्ध भगवंतोंको भाव नमस्कार है, वहीं सिद्धिधामकी निश्चययात्रा है। और जहाँसे उन्होंने मोक्षप्राप्त किया हो, ऐसे सिद्धक्षेत्रोंकी यात्रा- वंदना का भाव सो द्रव्य-नमस्कार है, वह व्यवहार-यात्रा है। ऐसी निश्चय-व्यवहारकी संधि साधक के भावमें होती है।

शास्त्राधार—

तीर्थक्षेत्रोंमें धर्म नहीं रखा है जो वहां जाकर ले आवे ऐसा स्व० श्री पं० सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार गा० २ की भाषा टीका में निम्नप्रकार कहा है।—

धर्मका स्वरूप कहने के लिए श्री समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचार गा० २ में कहा है कि—

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसार दुःखतः सत्वान्, योधरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

अर्थ—मैं (समंतभद्राचार्य) ग्रन्थकर्ता, इस ग्रन्थमें उस धर्मका उपदेश परिवर्तनरूप संसारके दुःखसे निकालकर स्वर्गमोक्षके बाधारहित उत्तम सुखोंमें धारण करे। वह धर्म कैसा है जिसमें वादी प्रतिवादी कर तथा प्रत्यक्ष अनुमानादि कर बाधा नहीं आती, और जो कर्म बंधनको नष्ट करनेवाला है उस धर्मको कहता हूं।

भावार्थ—संसारमें धर्म ऐसा नाम तो सभी लोग कहते हैं परन्तु धर्म शब्दका अर्थ तो ऐसा है जो नरक तिर्यंच आदि गतिमें परिभ्रमण रूप दुःखोंसे आत्माको छुड़ाकर उत्तम आत्मिक, अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्ष

सुखमें धारण करे वह धर्म है। ऐसा धर्म मोल नहीं आता जो धन देकर अथवा दान सम्मान आदि से प्राप्त करे तथा किसीका दिया हुआ नहीं आता जो सेवा उपासना से प्रसन्न कर लिया जाय। तथा मन्दिर, पर्वत, जल अग्नि, देवमूर्ति तीर्थ आदिमें नहीं रखा है जो वहां जाकर ले आवे। तथा उपवास, व्रत, कायक्लेशादि तपमें भी, शरीरादि कृश करनेसे भी नहीं मिलते। तथा देवाधिदेवके मन्दिरोंमें उपकरणदान मण्डल पूजनादि द्वारा तथा गृह छोड़ वन स्मशानमें बसने से तथा परमेश्वर के नाम जाप्यादिक द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। धर्म तो आत्माका स्वभाव है। जो परमें आत्मबुद्धि छोड़ अपना ज्ञाता दृष्टारूप स्वभावका श्रद्धान अनुभव तथा ज्ञायक स्वभावमें ही प्रवर्त्तनरूप जो आचरण सो धर्म है। तथा उत्तमक्षमादि दशलक्षणरूप अपना आत्मा का परिणमन तथा रत्नत्रय रूप तथा जीवोंकी दयारूप आत्माकी परिणति होय तब आत्मा आप ही धर्मरूप होगा। पर द्रव्य-क्षेत्र, कालादि तो निमित्तमात्र हैं। जिसकाल यह आत्मा रागादिरूप परिणति छोड़ वीतराग रूप हुआ देखता है तब मन्दिर, प्रतिमा, तीर्थ, दान, तप, जप समस्त ही धर्मरूप है। अर अपना आत्मा उत्तम क्षमादिरूप वीतरागरूप, सम्यग्ज्ञान रूप नाहीं होय तो वहाँ कहीं भी धर्म नाहीं होय। शुभराग होय तो पुण्यबंध होय है। अर अशुभ राग द्वेष मोह होय तहाँ पाप बंध होय है। [रत्न० श्रा० पृ० नं० २]

श्री बुधजनजीने १२ भावना में धर्म सम्बन्धमें कहा है कि—

"जिय! न्हान धोना, तीर्थजाना धर्म नहीं तप तपा, वर धर्म निज आतम स्वभावी ताहि बिन सब निष्फला। बुद्धजन धरमनिजधार लीना तिनहि सब कीना भला॥"

वृ० समाधिभाषामें भी कहा है कि —

'भव भवमें जिन पूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो।

भव भवमें मैं समवसरणमें, देख्यो जिनगुण भीनो ।
एती वस्तु मिली भवभवमें सम्यक् गुण नहिं पायो ॥४॥

नोंध—अत: भगवान तीर्थंकर आदि तो निमित्तमात्र है, यह जीव भेदज्ञान द्वारा स्वस-सुखतारूप निजशक्ति प्रगट करे अर्थात् उपादान काय कर तो निमित्तका ज्ञान कराने क लिये उसको असद्भूत व्यवहारनयसे उपचार कारण कहा जाता है। उपरोक्त कथन न० ११ भी आगमानुकूल ही है।

कथन न० १२

'जीओ और जीने दो ऐसा अज्ञानी कहते हैं"

(मोक्षमार्ग प्रकाशक किरण पृ० १८४)

विवेचन— इस सबधमें मो० किरण पृ० १८४, ८५ में पूरा प्रकरण अज्ञानी की शास्त्र सबधी भूलोंके अन्तगत निम्नप्रकार आया है।

"जियो और जीने दो" ऐसा अज्ञानी कहते हैं (परन्तु) किसीका जीवन किसी परके आधीन नहीं है, शरीर या आयु से जाना यह आत्माका जीवन नहीं है। अपनी पर्यायमें पुण्य पाप क भाव स्वभाव की दृष्टि पूवक न होने देना और ज्ञाता दृष्टा रहना उसका नाम जीवन है।" × × × कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ की क्रिया नहीं कर सकते। अपने ज्ञानानद स्वभावके भानपूवक राग न होने देना तथा रागरहित लीनता करना यह अहिंसा और दया है और ऐसे भानपूवक दूसरे प्राणियों को दुःख न दने का भाव सो व्यवहार दया है, वह पुण्यास्रव है। आत्मा पर जावकी पर्यायका तथा शरीर, वाणीकी पर्याय का कर्त्ता नहीं है। यदि जड़ की क्रिया आत्मासे हो तो जड़ के द्रव्य और गुणने क्या किया? जगतको अनेकान्त तत्त्वकी खबर नहीं है। आत्मामें जड़ नहीं है और जड़में आत्मा नहीं है, इसप्रकार जिसे अनेकान्त की खबर नहीं है और बाह्यमें दया मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

शास्त्राधार नं० १—

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक में जैन धर्म के अनुयायी मिथ्यादृष्टिका स्वरूप अ० ७ में आश्रव तत्त्वकी भूलमें वर्णन है (पृ० नं० ३३२ देहली सस्ती ग्रन्थमाला) कि सर्व जीवोंके जीवन मरण सुख दुःख अपने कर्मके निमित्ततैं हो है। जहां जीव अन्य जीवके इन कार्यनिका कर्त्ता होय, सोई मिथ्याध्यवसाय बंधका कारण है। तहां अन्य जीवनिको जिवावनेका या सुखी करनेका अध्यवसाय होय सो तो पुण्यबंधका कारण है, अर मारने का या दुखी करनेका अध्यवसाय होय, सो पापबंधका कारण है। ऐसे अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्य बन्धको कारण है और हिंसावत असत्यादिक पापबंधको कारण है। ए सर्व मिथ्याध्यवसाय है, ते त्याज्य हैं। तातैं हिंसादिवत् अहिंसादिकको भी बंधका कारण जानि हेय ही मानना। हिंसाविषै मारने की बुद्धि होय सो वाका आयु पूरा हुआ बिना मरै नाहीं। अपनी द्वेष परिणति करि आप ही पाप बांधै है। अहिंसाविषै रक्षा करने की बुद्धि होय, सो वाका आयु अवशेष बिना जीवे नाही, अपनी प्रशस्त राग परिणतिकरि आप ही पुण्य बांधै है। ऐसे दोऊ हेय हैं। जहां वीतराग होय दृष्टा ज्ञाता प्रवर्तैं, तहां निर्बंध है सो उपादेय है, सो वीतराग ऐसी दशा न होय तावत प्रशस्त रागरूप प्रवर्तैं। परन्तु श्रद्धान तो ऐसा राखौ-यह भी बंधका कारण है—हेय है।

आधार नं० २—सर्व जीवोंका जीवन-मरण किसप्रकार होता है, इस विषयमें श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार शास्त्र गाथा २५४ से २५६ में निम्नप्रकार कहा है—

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कह कया ते ॥ २५४ ॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥ २५५ ॥

कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुह कह त सुहिदो कदो तेहिं ॥ २५६ ॥

अर्थ—जो सभी जीव (ससारी जीव) कर्मके उदयसे दुखी सुखी होते हैं, और तू उन्हें कर्म तो देता नहीं है, तो (हे भाइ) तूने उन्हें दुखी-सुखी कैसे किया। यदि सभी जीव कर्मके उदय से दुखी-सुखी होते हैं, और वे तुझ कर्म तो नहीं देते, तो (हे भाई) उन्होंने तुझे दुखी कैसे किया। यदि सभी जीव कर्मके उदयसे दुखी सुखी होते हैं, और वे तुझे कर्म तो नहीं देते, तो (हे भाइ) उन्होंने तुझे सुखी कैसे किया। यही श्री अमृत चन्द्राचार्यने कलश नं० १६८ में कहा है कि इस जगतमें जीवोंके मरण जीवित, दुःख सुख सब सदैव नियमसे (निश्चित् रूपसे) अपने कर्मोदयसे होता है किन्तु यह मानना तो अज्ञान है कि—दूसरा पुरुष दूसरे के मरण, जीवन दुःख सुखको करता है। १६८।

इसप्रकार शास्त्राधारसे उक्त कथनके मर्मका कोई विरोध नहीं होता। अत कथन न० १२ भी आगम सम्मत है।

कथन न०—१३

मन वचन कायकी क्रिया बन्धका कारण नहीं है

(मोक्षशास्त्र पृ० ६५६ आवृत्ति तीसरी)

विवेचन—यहाँ पर यह वाक्य निम्नलिखित प्रकरणमें निम्नप्रकार आया है —

गुप्तिका स्वरूप

"कुछ लोग मन-वचन-कायकी चेष्टा दूर करने, पापका चिन्तवन न करने, मौन धारण करने तथा गमनादि न करनेको गुप्ति मानते हैं, किन्तु यह गुप्ति नहीं है, क्योंकि जीवके भक्ति आदि प्रशस्त रागादिकके अनेक प्रकारके विकल्प होते हैं और वचन कायकी चेष्टा रोकनेका भाव है सो तो

शुभप्रवृत्ति है, प्रवृत्तिमें गुप्तिपना नहीं बनता। इसलिये वीतरागभाव होने पर जहां मन-वचन-कायकी चेष्टा नहीं होती वहां यथार्थ गुप्ति है। यथार्थ रीत्या गुप्तिका एक ही प्रकार है और वह वीतरागभावरूप है। निमित्तकी अपेक्षासे गुप्तिके तीन भेद कहे हैं। मन, वचन, काय तो परद्रव्य है, इसकी कोई क्रिया बंध या अबंधत्वका कारण नहीं है। वीतरागभाव होनेपर जितने अंशमें यह मन वचन कायकी तरफ नहीं लगता उतने अंशमें निश्चय गुप्ति है और यही संवरका कारण है।"

नोट—श्री पं० टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशकमें अध्याय ७ पृ० २३५ में सात तत्त्वोंका अन्यथारूप बताया है उसीका यह स्पष्टीकरण है।

मात्र मन वचन कायकी क्रियासे बन्ध नहीं हो सकता उसके लिए शास्त्राधार १ श्री समयसार गाथा २३७ से २४१ में इसप्रकार कहा है—

जिस रीत कोई पुरुष मर्दन आप करके तेलका।
व्यायाम करता शस्त्रसे, बहु रजभरे स्थानक खड़ा॥ २३७॥
अरु ताड़ कदली, बांस आदिक छिन्नभिन्न बहू करे।
उपघात आप सचित्त अवरु अचित्त द्रव्योंका करे॥ २३८॥
बहु भांतिके करणादिसे उपघात करते उसहिको।
निश्चयपने चिंतन करो, रजबंध है किन कारणों?॥ २३९॥
यों जानना निश्चयपनें—चिकनाइ जो उस नर विषैं।
रजबंधकारण वो हि है, नहिं काय चेष्टा शेष है॥ २४०॥
चेष्टा विविधमें वर्तता, इस भांति मिथ्यादृष्टि जो।
उपयोगमें रागादि करता, रजहिसे लेपाय वो॥ २४१॥

श्री अमृतचन्द्राचार्यने टीकामें स्पष्ट कह दिया है कि (१) भूमि है वह रजके बंधका कारण नहीं, (२) व्यायामरूपी क्रिया रजके बन्धका

कारण नहीं, (३) अनेक प्रकारके कारण भी रजबन्धके कारण नहीं, (४) सचित्त अचित्त वस्तुका घात भी रजबन्धका कारण नहीं किन्तु पुरुषमें तैलका मर्दन ही उस रजबन्धका कारण है।

इसीप्रकार यहां विचार करो कि उस पुरुषके बन्धका कारण कौन है? (१) स्वभावसे ही जो बहुतसे कर्मयोग्य पुद्गलोंसे भरा हुआ है ऐसा लोक बन्धका कारण नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो तो सिद्धोंको भी-जो त्रिलोकमें रह रहे हैं उनके भी बन्धका प्रसग आ जायेगा। काय-वचन-मन का कर्म (अर्थात् काय-वचन-मनकी क्रिया स्वरूप योग) भी बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो यथाख्यात संयमियोंके भी (काय-वचन-मनकी क्रिया होनेसे) बन्धका प्रसग आयेगा। इसलिये न्यायबलसे फलित हुआ कि उपयोगमें रागादि करण (अर्थात् उपयोगमें रागादिकका करना) बन्धका कारण है।

नोट—बंधके कारण उपयोगमें रागादिककी एकत्वबुद्धि ही है, काय वचन मनकी क्रिया नहीं।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३३५ में भी कहा है कि —

"बाह्य मन वचन कायकी चेष्टा मेटैं, पापचितवन न करै, मौन धरै, गमनादि न करे, सो गुप्ति मानैं हैं सो यहां तौ मन विषैं भक्ति-आदिरूप प्रशस्तरागादि नानाविकल्प हो है, वचन कायकी चेष्टा आप रोकि राखी है। वहां शुभ प्रवृत्ति है, अर प्रवृत्ति विषैं गुप्ति पनो बनैं नाहीं। तातैं वीतरागभाव भए जहां मनवचन कायकी चेष्टा न होय, सो ही साची गुप्ति है।"

मोक्षमार्ग प्र० पृ० ३३३ में कहा है कि—

"बहुरि बाह्य चेष्टा होय ताकौं योग जानैं, शक्तिभूत योगनिकौं न जानैं। ऐसे आश्रवनिका स्वरूप अन्यथा जानैं, बहुरि रागद्वेष मोहरूप जे

आश्रवभाव हैं, तिनका तो नाश करने की चिन्ता नहीं। अर बाह्यक्रिया या बाह्यनिमित्त मेटने का उपाय राखै, सो तिनके मेटै, आश्रव मिटता नाहीं। द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिक की सेवा न करे है, हिंसा वा विषयनि विषै न प्रवर्ते है, क्रोधादि न करे है, मन-वचन कायको रोके है, तो भी वाके मिथ्यात्वादि चारों आश्रव पाइये है। बहुरि कपट करि भी ए कार्य न करे है। कपट करि करै, तो ग्रैवेयक पर्यंत कैसे पहुँचे। तातैं जो अंतरंग अभिप्रायविषै मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव है, सो ही आश्रव है ताकौ न पहिचानै, तातैं वाकै आश्रव तत्वका भी सत्य श्रद्धान नाहीं।"

अतः उक्त कथन नं० १३ शास्त्र सम्मत है।

कथन नं०—१४

"आत्मा में कर्मों से विकार नहीं होता"

(समयसार प्रवचन भाग १ पृ० ६६)।

विवेचन—यह विषय समयसार गाथा २ में जीवको परसमय क्यों कहा उसके उत्तरमें निम्नप्रकार आया है।

जो जीव अपने गुण पर्यायमें स्थिर न रहकर परद्रव्य के संयोगमें अर्थात् पुद्गलकर्म प्रदेशमें स्थित हो रहा है उसे अज्ञानी कहा है।

प्रश्न—क्या अल्पज्ञ जीव सूक्ष्म कर्मके प्रदेशोंको देखता है।

उत्तर—नहीं, नहीं देखता, किन्तु मोहकर्मकी फलदायी शक्तिके उदयमें युक्त हो तो ही वह परसमय स्थित कहलाता है। अपनेमे युक्त होनेसे अर्थात् स्थिर रहने से विकार उत्पन्न नहीं होता, विकार तो पर निमित्तमें जुड़नेसे होता है। स्वयं निमित्ताधीन होने पर अपनी अवस्थामे विकारभाव दिखाई देता है। कर्म संयोगी-विकारी पुद्गलकी अवस्था है, उस ओर झुकनेवाला भाव विकारी जीवभाव है यह पुद्गल कर्म प्रदेशमें युक्त होनेसे

स्तन्त्र होता है। जड़कर्म बलात् विकार नहीं करा सकते, किन्तु स्वयं अपने को भूलकर पुद्गल प्रदेशों में स्थित हो रहा है। राग द्वारा स्वय पराबल्म्बीभाव करता है। कर्मोंने जीवको नहीं बिगाड़ा किन्तु जीव स्वय अशुद्धता धारण करता है तब कर्मोंकी उपस्थिति को निमित्त कहा जाता है। इसलिये उस विकारके द्वारा व्यवहारसे परसमयमें स्थित कहलाया।

किन्तु जिसकी परके ऊपर दृष्टि है, और परसे मैं जुदा हू यह प्रतीति नहीं है ऐसा जीव कर्मकी उपस्थितिकी जहा बात आई वहा निमित्त के पीछे ही पड़ता है और बाहर से सुनकर कल्पना कर लेता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। शास्त्रों में कर्मोंको निमित्तमात्र कहा है, ये आत्मा से परवस्तु हैं। परवस्तु किसीका कुछ बिगाड़ने में समर्थ नहीं है।

शास्त्राधार १—

प्रवचनसार अ० १ गा० ४५ की टीकामें भी जयसेनाचार्यने निम्नप्रकार कहा है।

"औदयिका भावा: बंधकारणम्"

इसका अर्थ इतना ही है कि जो जीव मोहोदयमें युक्त हो तो बध होता है। द्रव्यमोहका उदय होने पर भी यदि जीव शुद्धात्म भावनाके बल द्वारा भाव मोहरूप परिणत न हो तो बध विकार नहीं होता, यदि जीवको कर्मके उदय मात्रसे बंध होता हो ससारी को सर्वदा कर्मोदय की विद्यमानता होनेसे सर्वदा बध ही हो, कभी मोक्ष होगा ही नहीं।

आधार न० २—

समयसार नाटक सर्व विशुद्धि द्वारमें श्री प० बनारसीदासजी ने काव्य नं० ६१ से ६६ में निम्नप्रकार कहा है —

कोऊ शिष्य कहे स्वामी रागद्वेष परिनाम,
ताको मूल प्रेरक कहहु तुम्ह कौन है।
पुग्गल करमजोग किधौं इन्द्रिनीकौ भोग,
किधौ परिजन किधौ धन किधौं भौन है।
गुरु कहे छहो दर्व अपने अपने रूप
सबनिकौ सदा असहाई परिनौन है
कोउ दर्व काहू कौन प्रेरक कदाचि तातैं
राग द्वेष मोह मृषा मदिरा अचौन है ॥६१॥

(अचौन—पीना)

मूर्ख प्रश्न—गुरु उत्तर—

कोउ मूरख यों कहे, राग द्वेष परिणाम ।
पुग्गल की जोरावरी, वरते आतमराम ॥६२॥
ज्यों ज्यों पुग्गल बल करे, धरि धरि कर्मज भेष ।
राग द्वेपको परिणमन, त्यों त्यों होय विशेष ॥६३॥
यह ही जो विपरीत पख गहै सरदहै कोइ ।
सो नर राग विरोधसों कबहूं भिन्न न होइ ॥६४॥
सुगुरु कहे जगमें रहे, पुग्गल संग सदीव ।
सहज शुद्ध परिणमनको, औसर लहे न जीव ॥६५॥
तातैं चिद्भावनि विषै समरथ चेतन राव ।
राग विरोध मिथ्यात्वमें, सम्यकमें शिवभाव ॥६६॥

आधार ३—पंचास्तिकाय गाथा ६२ में तथा टीकामें कहा है कि शुद्धतामें या अशुद्धतामें जीव और कर्मों को छहों कारक (कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण) अपने अपने में पूर्णतया स्वतंत्र तथा अन्यसे निरपेक्ष होते हैं।

इसप्रकार कथन नं० १४ शास्त्र सम्मत है।

कथन नं० १६—

व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रयका कारण नहीं है।

(मोक्षशास्त्र पृ० १२३—१८०)

कथन नं० २१

महाव्रतादि से संवर नहीं होता।

(मोक्षशास्त्र पृ० ६१८)

नोट—उपरोक्त दोनों कथन लगभग एक ही अभिप्रायके द्योतक होने से तथा दोनों ही कथन संकेत किये हुए पत्रों पर हमको नहीं मिलने से संभव है आवृत्ति पृष्ठ प्रकाशित हो जाने के कारण पृष्ठ संख्यामें अंतर पड़ गया हो इन कारणों से दोनों विषयों के उत्तररूप प्रमाणादि हम एक साथ ही निम्नप्रकार से दे रहे हैं।

आक्षेप नं० १६—

व्यवहाररत्नत्रय निश्चयरत्नत्रयका कारण नहीं है।

(मोक्षशास्त्र पृ० १२३-१८०)

उत्तर—उपरोक्त पृष्ठों पर यह विषय नहीं है, किन्तु तीसरी आवृत्ति पृ० १९७ में निम्नप्रकार मिलता है—

प्रश्न—क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का साधक है?

उत्तर—प्रथम जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तब विकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शनका अभाव होता है। इसलिये वह (व्यवहार सम्यग्दर्शन) वास्तवमें निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक नहीं है, तथापि उसे भूत नैगमनयसे साधक कहा जाता है, अर्थात् पहले जो व्यवहार सम्यग्दर्शन था वह निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट

होने समय अभावरूप होता है। इसलिये जब उसका अभाव होता है तब पूर्वकी सविकल्प श्रद्धाको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है। (परमात्मप्रकाश गाथा १४० पृ० १४३ प्रथमावृत्ति सं० टीका) इसप्रकार व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण नहीं किन्तु उसका अभाव कारण है।

कथन नं० २१—

महाव्रतादिसे संवर नहीं होता।

(मोक्षशास्त्र पृष्ठ ६१८)

विवेचन—मोक्षशास्त्र अ० ७ है वह आश्रव अधिकार है उसमें भी ऐसा शब्द नहीं है किन्तु अणुव्रत-महाव्रतके सम्बन्धमें निम्नप्रकार कहा है—(मोक्षशास्त्र अ० ७ आवृत्ति तीसरी पृष्ठ ५४७) इन पाँच पापोंसे (बुद्धिपूर्वक) निवृत्ति होना सो व्रत है। सू० १।

टीका

इस अध्यायमें आश्रवतत्त्वका निरूपण किया है, छठे अ० के १२ वे सूत्रमें कहा था कि व्रतोके प्रति जो अनुकम्पा है सो सातावेदनीयके आश्रवका कारण है, किन्तु वहाँ मूलसूत्रमें व्रतीकी व्याख्या नहीं की गई थी, इसलिये यहाँ इस सूत्रमें व्रतका लक्षण दिया गया है। इस अ० के १८ वें सूत्रमें कहा है कि "निःशल्यो व्रती" मिथ्यादर्शन आदि शल्य रहित ही जीव व्रती होता है अर्थात् मिथ्यादृष्टिके कभी [सच्चे] व्रत होते ही नहीं, सम्यग्दृष्टि जीवके ही सत्यार्थ व्रत हो सकते हैं। भगवान्ने मिथ्यादृष्टिके शुभरागरूप व्रतको बालव्रत कहा है। (स० सार गाथा १५२ तथा टीका) बालका अर्थ अज्ञान है।

इस अध्यायमें महाव्रत और अणुव्रत भी आश्रवरूप कहे हैं, इसलिये वे उपादेय कैसे हो सकते हैं। आश्रव तो बन्धका ही साधक है अतः महाव्रत और अणुव्रत भी बन्धके साधक हैं और वीतराग भावरूप जो चारित्र है सो मोक्षका साधक है, इससे महाव्रतादिरूप आश्रवभावोंको

चारित्रपना सम्भव नहीं, सर्व कषाय रहित जो उदासीन भाव है उसीका नाम चारित्र है। जो चारित्रमोहके उदयमें युक्त होनेसे महामंद प्रशस्त राग होता है वह चारित्रका मल है, उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करता, सावद्ययोगका ही त्याग करता है। जैसे कोई पुरुष कंदमूलादि अधिक दोषवाली हरितकायका त्याग करता है तथा दूसरे हरितकायका आहार करता है किन्तु उसे धर्म नहीं मानता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावक हिंसादि तीव्रकषायरूप भावोंका त्याग करता है तथा कोई मंद कषायरूप महाव्रत अणुव्रतादि पालता है, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानता। (मो० प्र० पृ० ३३६-३३७ से)

दोनों विषयों पर शास्त्राधार निम्नप्रकार है

आधार न० १—

परमात्म प्रकाश अध्याय २ गाथा १४ (३ रा संस्करण) की टीका इस सम्बन्धमें पठनीय है—

क्या व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शनका साधक है ? इस विषयमें आचार्यदेवने कहा है, "अथवा साधको व्यवहार मोक्षमार्ग साध्यो निश्चय मोक्षमार्ग अत्राह शिष्य। निश्चय मोक्षमार्गो निर्विकल्प तत्काले सविकल्प मोक्षमार्गो नास्ति कथ साधको भवतीति। अत्र परिहारमाह भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति।"

अर्थ—शिष्यका प्रश्न-क्या व्यवहार मोक्षमार्ग साधक तथा निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है, निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है उस समय सविकल्प (व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं है अत मोक्षमार्ग साधक कैसे हो सकता है ? समाधान—भूतनैगमनयसे परम्परा कारण है अथ न उसका अभाव कारण है।

आधार नं० २—

मोक्षमार्ग प्रकाशक पत्र ३३७

"इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि मुनि श्रावक हिंसादि तीव्रकषायरूप भावोंका त्याग करता है तथा कोई मंद कषायरूप महाव्रत अणुव्रतादिको पालते हैं परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।"

नोट—सम्यग्दृष्टि मुनि भी महाव्रतको आश्रवतत्त्व अर्थात् बन्धका कारण समझते हैं इसप्रकार व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रयका कारण कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

आधार नं० ३—(२१) मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३७६ में कहा है—"बहुरि कोई ऐसैं मानैं कि शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोग को कारण है। सो जैसैं अशुभोपयोग छूटि शुभोपयोग हो है, तैसैं शुभोपयोग छूटि शुद्धोपयोग हो है-ऐसैं ही कार्य कारणपना होय तो शुभोपयोगका कारण अशुभोपयोग ठहरे। अथवा द्रव्यलिंगी कै शुभोपयोग तो उत्कृष्ट हो है, शुद्धोपयोग होता ही नाहीं। **तातैं परमार्थ तैं इनकै कारण कार्यपना है नाहीं।** जैसें रोगी कै बहुत रोग था, पीछैं स्तोक रोग भया, तो वह स्तोक रोग तो निरोग होनेका कारण है नाहीं।

इतना है, स्तोक रोग रहैं निरोग होनेका उपाय करै तो होइ जाय। बहुरि जो स्तोक रोग ही कों भला जानि ताका राखनेका यत्न करै तो निरोग कैसैं होय। **तैसैं कषायी कै तीव्र कषाय रूप अशुभोपयोग था, पीछे मंदकषायरूप शुभोपयोग भया, तो वह शुभोपयोग तो निःकषाय शुद्धोपयोग होने को कारण है नाहीं। इतना है—शुभोपयोग भये शुद्धोपयोग का यत्न करै तो होय जाय। बहुरि जो शुभोपयोग ही कों भला जानि ताका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसैं होय। तातैं मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग कों कारण है नाहीं। सम्यग्दृष्टिकै शुभोपयोग भये निकट शुद्धोपयोग प्राप्त**

होय, ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभोपयोगको शुद्धोपयोग का कारण भी कहिये है, ऐसा जानना।"

आधार नं० ४—श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत द्वादशानुप्रेक्षा गा० ५६ में भी कहा है—

पारंपज्जाएण दु आसव किरिया ए णत्थि णिव्वाण।
संसार गमण कारणमिदि, णिंद आसवो जाण ॥ ५६ ॥

अर्थ—कर्मोंका आश्रव करनेवाली कियासे परम्परासे भी निर्वाण नहीं हो सकता है। इसलिये संसारमें भटकानेवाले आश्रवको निंद्य बुरा समझना चाहिये।

आधार नं० ५—प्रवचनसार गा० २४५ में ज्ञानीके शुभोपयोग को आश्रव तत्त्व कहा है—

श्रमणा, शुद्धोपयोग युक्ता' शुभोपयोग युक्तास्च भवंति समये।
तेष्वपि शुद्धोपयोग युक्ता अनाश्रवा, साश्रवा' शेषा ॥ २४५ ॥

अर्थ—शास्त्रमें ऐसा कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण है, शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं उनमें भी शुद्धोपयोगी निराश्रव हैं, शेष सा' व हैं, (अर्थात् शुभोपयोगी आश्रव सहित हैं।)

प्रवचनसार गा० ११ में मुनिका शुभोपयोग-सराग चारित्र विरोधी शक्ति सहित है, और वीतराग चारित्र विरोधशक्ति रहित है, अतः शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है। ऐसा आचार्य ने कहा है।

आधार—६—

पंचास्तिकाय गा० १६७ में भी जयसेनाचार्य ने कहा है कि श्री अरहंतादि में भी राग छोड़ने योग्य है पीछे गा० १६८ में कहा है कि धर्मी जीव का राग भी (निश्चयनय से) सर्व अनर्थ परम्पराका कारण है। संस्कृत तात्पर्यवृत्ति टीका १६- "अथ सर्व अनर्थ परम्पराणां राग एव मूलं

इत्युपदिशति। ततः स्थितं समस्त अनर्थ परम्पराणां रागादि विकल्पा एव लमिति ॥ १६८ ॥"

आधार ७—

मोक्षमार्ग प्रकाशक पत्र ३७६–७७ में कहा है कि—

"बहुरि नीचली दशा विषै केई जीवनि कै शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का युक्तपना पाइए है। तातैं उपचार करि व्रतादिक शुभोपयोग कों मोक्षमार्ग कहा है। वस्तु विचार तैं शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है जातैं बंधकों कारण सोई मोक्षका घातक है ऐसा श्रद्धान करना। बहुरि शुद्धोपयोग को ही उपादेय मानि ताका उपाय करना। शुभोपयोग–अशुभोपयोग को हेय जानि तिनके त्यागका उपाय करना। जहाँ शुद्धोपयोग न होय सकै, तहां अशुभोपयोग को छोड़ि शुभ ही विषैं प्रवर्तना। जातैं शुभोपयोगतैं अशुभोपयोगमें अशुद्धता की अधिकता है।"

आधार नं० ८—

श्री पद्मनंदी पंचविंशतिका में भी कहा है कि—

निश्चय मोक्षमार्ग से मोक्ष, व्यवहार मोक्षमार्ग से बन्ध।

: अध्याय १ गाथा ८१ पृष्ठ ३४ :

दृष्टिर्निर्णीतिरात्मा ह्वयविशदमहस्यत्र बोधः प्रबोधः
शुद्धं चारित्रमत्र स्थितिरिति युगपद्वन्ध विध्वंसकारि।
बाह्यं बाह्यार्थमेव त्रितयमपि परंस्याच्छुभो वा शुभो वा
बन्धः संसारमेवं श्रुतनिपुणधियः साधवस्तं वदन्ति ॥ ८१ ॥

संस्कृत टीका

आत्माह्वयविशदमहसि निर्णीतिः दृष्टिः निर्णयं दर्शनं भवति। अत्र आत्मनि बोधः प्रबोध ज्ञानं भवति। अत्र आत्मनि स्थितिः शुद्धं चारित्रं

भवति। इति त्रितयमपि। युगपत् बन्ध विध्वंसकारि कमबन्धपरंस्त्वम्। त्रितय बाह्य रत्नत्रयं, व्यवहाररत्नत्रय वाङ्यार्थ सूचक जानीहि। पुनः बाह्य रत्नत्रय परं वा शुभो वा अशुभो वा बन्ध स्याद्भवेत्। श्रुतनिपुणधियः मुनयः बाह्यार्थं संसारम् एव वदन्ति कथयं त॥ ८१॥

हिन्दी अर्थ

आत्मा नामक निर्मल तेजके निर्णय करने अर्थात् अपने शुद्धात्मरूपमें रुचि होनेका नाम सम्यग्दर्शन है। उसी आत्मस्वरूपके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। इसी आत्मस्वरूपमें लीन होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं। ये तीनों एक साथ उत्पन्न होकर बन्धका विनाश करते हैं। बाह्य रत्नत्रय केवल बाह्य पदार्थों (जीवाजीवादि) को ही विषय करता है और उसे शुभ अथवा अशुभ कर्मका बन्ध होता है जो संसार परिभ्रमणका ही कारण है। इसप्रकार आगमके जानकार साधुजन निरूपण करते हैं।

नोट—बाह्य रत्नत्रय कहो अथवा व्यवहार मोक्षमार्ग कहो दोनों एकार्थवाची हैं।

आधार नं० ९—

मोक्षमार्ग प्रकाशक देहली पत्र—३३४

"यहाँ प्रश्न—जो मुनियोंके एक काल एक भाव हो है, तहाँ उनके बन्ध भी हो है अर संवर निर्जरा भी हो है, सो कैसें है ?

ताका समाधान—वह भाव मिश्ररूप है। किछू वीतराग भया है, किछू सराग रहा है। जे अंश वीतराग भए तिनकरि संवर है अर जे अंश सराग रहे तिन करि बन्ध है। सो एक भावतैं तो दोय काय बनैं परन्तु एक प्रशस्त राग ही तैं पुण्यास्रव भी मानना अर संवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभाव विर्षे भी यहु सरागता है, यहु विरागता है, ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि ही के होय। तातैं अवशेष सरागताकौं हेय श्रद्धै है। मिथ्यादृष्टिके

ऐसी पहिचान नाही तातै सरागभाव विषैं संवरका भ्रम करि प्रशस्त रागरूप कार्यनिकों उपादेय श्रद्धै है।"

"मोक्ष० प्र० पृ० ३४० में कहा है कि "स्तोक शुद्धता भए शुभोपयोगका भी अंश रहै, तो जेती शुद्धता भई ताकरि तो निर्जरा है अर जेता शुभभाव है ताकरि बन्ध है। ऐसा मिश्रभाव युगपत हो है, तहाँ बन्ध वा निर्जरा दोऊ हो है।"

इसप्रकार कथन नं० १६ व २१ का कथन आगमानुकूल सिद्ध होता है।

सोनगढ़ साहित्यको कोई अपनी विरोध दृष्टिवश अर्थका अनर्थ करके ऊपर नीचेका कथन तोड़ मरोड़-कांट छांटकर अपनी ओरसे नया शब्द लगाकर गलत फहमी फैलानेकी चेष्टा करते हैं तो करो...... ... सत्य है वह सत्य ही रहेगा।

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव॥

श्री कानजी स्वामी द्वारा व्यवहार धर्म पर प्ररूपणा

यह प्राय कहा जाता है कि श्री कानजी स्वामी केवल निश्चयका प्रतिपादन करते हैं, व्यवहार प्रवृत्ति मार्गका निषेध करते हैं इससे धार्मिक प्रवृत्तियाँ समाप्त हो जायेगी ऐसी आशंका कुछ महानुभावों द्वारा की जाती है।

भली प्रकार विचार करनेसे उपरोक्त कथन एवं आशंका साधार प्रतीत नहीं होती। श्री कानजी स्वामी एवं उनके उपदेशोंसे प्रभावित लोग भी उसीप्रकार भक्ति, दान, पूजा, तीर्थ वन्दना आदि करते हैं जिसप्रकार अन्य भाइ करते हैं। इसे श्री कानजी स्वामीके विरोधी भाई भी मानते हैं किन्तु उनका केवल यही कहना है कि वे इस प्रवृत्ति मार्गको अपनी वाणीमें स्थान नहीं देते। किन्तु यह भी सत्य नहीं है।

उन्होंने प्रवृत्तिमार्गकी प्ररूपणामें अनेक कथन किए हैं और वे करते हैं, जिसका परिणाम है कि सौराष्ट्रमें अनेक दिगम्बर मन्दिर बन गए और बन रहे हैं किन्तु खेद इसी बातका है कि उनके इन कथनोंकी ओर विरोध करनेवाले भाइयोंका ध्यान नहीं जाता या जानबूझकर उधरसे आँख बन्द किए हुए हैं।

मुझे श्री स्वामीजीके 'देश व्रतोद्योतनम्' पर हुए प्रवचनोंके अनुवाद करनेका अवसर प्राप्त हुआ था उसमें से कुछ उद्धरण यहाँ पाठकोंके मननार्थ प्रस्तुत करता हूँ। अब वे निर्णय करें कि इसप्रकारके उपदेशके प्रचारसे दान, पूजा, भक्ति आदिकी प्रवृत्तिका प्रसार होगा या अवरोध होगा।

१ मुक्ति अर्थात् पूर्ण आनन्द दशाका कारण चारित्र दशा है वह मुनिधर्ममें है। उसे विरला जीव ही पा सकता है। पृ० १।

२ जो मुनि धर्मका पालन नहीं कर सकें उन्हें देशव्रतकी वृद्धि करनी चाहिए। पृ० १-२।

३ पुण्य और पाप भाव संसारके वास्तविक कारण नहीं हैं, सम्यग्दृष्टिके भी पुण्य पाप भाव होते हैं, लेकिन वे संसारके बीज नहीं हैं। पृ० १२।

४ आत्मभानपूर्वक मुनिपना अंगीकार न किया जा सके तो श्रावक बनना चाहिए। पृ० १४।

५. दुलभ मनुष्य भवमें सम्यग्दर्शन पूर्वक श्रावकके षटकर्म करने चाहिए। पृ० १५।

६. जिस घरमें भगवानकी स्तुति, भक्ति नहीं की जाती वह घर कसाईखानेके समान है। पृ० १८।

७. जो श्रावक छः आवश्यक कर्म नहीं करता उसके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है। पृ० १८।

८. जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति नहीं देखता तथा भक्ति पूर्वक उनकी पूजा, स्तुति नहीं करता उस मनुष्यका जीवन निष्फल है तथा उसके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है। पृ० १८।

९. जो शास्त्र नहीं पढ़ते, उनका अध्ययन नहीं करते वे अन्धे हैं। पृ० १९।

१०. ज्ञानके आकांक्षी मनुष्योंको भक्तिपूवक निर्ग्रन्थ गुरुकी सेवा वन्दना आदि करनी चाहिए। पृ० १८।

११ अगर जो अपनी अस्थिरता या नग्नताकी लज्जाके कारण मुनि न हो सके तो उसे श्रावकके छः कर्म अवश्य करने चाहिए। किन्तु मनुष्य जन्म और सम्यग्दर्शन व्यर्थ नहीं खो देना चाहिए। पृ० २१।

१२. जो लोभी दानमें लक्ष्मीका उपयोग नहीं करता वह कौएसे भी हल्का है। पृ० २६।

१३. ज्ञानीका दान दृष्टिपूर्वक राग कम करनेके लिए है। पृ० २७।

१४ ज्ञानीके दानादि शुभराग संसारसे पार होनेके लिए जहाजके समान है। पृ० २८।

१५ आत्मज्ञान पूर्वक अशुभ दूर हुआ इसलिए दान संसारसे पार होनेके लिए जहाजके समान है। पृ० २६।

१६ मोक्ष दशाका कारण मुनियोंका मोक्षमार्ग है, उसके स्थिर रहनेमें आहार दान परम्परा कारण है। पृ० ३०।

१७ अपने ज्ञान स्वभावसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हो तो शरीर निमित्त कहलाता है इसलिए निर्ग्रन्थ मुनिका शरीर चारित्रमें निमित्त होता है। पृ० ३०।

१८ मुनिके वस्त्र पात्र नहीं होते ऐसे मुनिके शरीर टिकनेमें अन्न निमित्त है। अन्न खावे तो शरीर टिके ऐसा नहीं है किन्तु शरीर रहे तो अन्न निमित्त है। पृ० ३०।

१९ मुनिधर्मकी प्रवृत्ति श्रावकसे होती है इसलिए आत्महितके अभिलाषी जीवोंको मुनि धर्मकी प्रवृत्तिका कारण गृहस्थ धर्म धारण करना चाहिए। पृ० ३३।

२० आत्मज्ञान पूर्वक दान करनेवाला श्रावक केवलज्ञान प्राप्त करेगा। पृ० ३७।

२१ सम्यग्दृष्टि औषधिदानके फलसे चक्रवर्ती बलदेव आदिका पद प्राप्त कर मुक्त होते हैं। पृ० ४१।

२२ रागके अभाव स्वरूप आत्माकी दृष्टि रखनेवाला लक्ष्मीका सदुपयोग दानमें करता है। पृ० ४७।

२३ जिनेन्द्र भगवानकी पूजा, गुरु सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह आवश्यक श्रावकको हमेशा करना चाहिए अगर वह हमेशा नहीं करे तो वह श्रावक कहलाने योग्य नहीं है। पृ० ४९।

२४ जो जिनेन्द्रदेवके दर्शन तथा दानादि नहीं करता वह पत्थरकी नावके समान डूब जाता है। पृ० ५१।

२५. जो गृहस्थ होते हुए भी जिनेन्द्र भगवानके दर्शन नहीं करता वह श्रावक नहीं है। पृ० ५१।

२६. सर्वज्ञके सनातन मार्गमें जो दृष्टिपूर्वक दर्शन, पूजा नहीं करता वह श्रावक नहीं कहलाता। पृ० ६०।

२७. धर्मात्मा धर्म प्रवृत्तिका निमित्त है अतः धर्मात्मा श्रावकका आदर करना चाहिए, पृ० ६३।

२८. जो जीव भक्ति पूर्वक जिन मन्दिर आदि बनाते हैं वे धन्य हैं। पृ० ६६।

२९. जो आत्मभान पूर्वक जिन मन्दिरका निर्माण कराते हैं उनके पुण्यका वर्णन अगम्य है। पृ० ६७।

३०. जो अन्तरङ्गकी शान्तिका आश्रय लेकर राग कम करे वही श्रावक है। पृ० ६९।

३१ श्रावक देव, गुरु, शास्त्रके प्रति अनुराग रखता है इसे गृहस्थाश्रमका धर्म कहा है। पृ० ७०।

३२ श्रावक अणुव्रतका पालन कर देवगति पायेगा, वहाँसे चय कर मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। पृ० ७४।

३३. भव्य जीवोंको मोक्षके निमित्त अणुव्रत और महाव्रत ग्रहण करने चाहिए। पृ० ७८।

३४. आत्मदृष्टिसे शुभराग अनर्थ कारक है किन्तु चरणानुयोगकी पद्धतिमें कहा जाता है कि व्रत धारण करो, पृ० ७८।

३५. निश्चयके ग्रन्थोंमें कहा गया है कि व्रत अनर्थके कारण हैं किन्तु साधकको अपनी भूमिका अनुसार शुभराग व्रतादिक अपनानेका राग होता ही है। मुक्त स्वभावका आश्रय करनेसे शान्ति मिलती है किन्तु अपूर्ण अवस्थामें श्रावकको राग आए बिना नहीं रहता, इसलिए उसे अणुव्रत धारण करना चाहिए ऐसा चरणानुयोगमें कहा गया है। पृ० ७९।

३६ आत्मभान पूर्वक किए गए देशव्रत स्वर्ग तथा परम्परासे मोक्षका कारण है। पृ० ८०।

निवेदक—

श्री वंशीधरजी शास्त्री, एम० ए०